

‘डिजिटल डिटाॅक्स’: माध्यमों की ज़रूरत और लत के बीच की बहस

विनीत कुमार

माध्यमों और खबरों को लेकर अभी तक हमारी एक समझ रही है, जिसके तहत हम इस बात को लेकर आश्वस्त होते रहे हैं कि हम जितना खुद को अपडेट करते रहें, हमारे लिए उतना ही अच्छा है, इससे देश-दुनिया के प्रति हमारी समझ और पेशेवर जिंदगी में हमारे सफल होने की संभावना उतनी ही बढ़ जाती है। मौजूदा दौर हमारी इस मासूम धारणा के खंडित होने और स्वयं “मीडिया का अंत” हो जाने का है।

मीडिया विमर्श में पिछले आठ-दस वर्षों से इस सिरे से लगातार तर्क और तथ्य प्रस्तावित किए जाने लगे हैं कि माध्यमों और खबरों से लगातार जुड़े रहने के कई स्तर पर नुकसान हैं। यह बात हमें हैरान तो ज़रूर करती है किन्तु सिलसिलेवार ढंग से इसे लेकर जो शोध-परिणाम सामने आ रहे हैं, उनके अनुसार इसकी अनुपस्थिति में एक बेहतर नागरिक समाज की संभावना देखने की बात निकलकर आ रही है। ऐसे परिणाम के पीछे एक कारण तो यह है कि इस बीच माध्यमों की प्रकृति तेज़ी से बदली है और वे अपने पारंपरिक दावे से ठीक उलट न केवल हमारे ही खिलाफ़ काम करने लग जा रहे हैं बल्कि और भी गहरे स्तर पर जाकर हमारी सोचने-समझने और व्यवहार की क्षमता पर नकारात्मक असर भी पैदा कर रहे हैं। अपने मूल चरित्र में मौजूदा दौर का मीडिया जिस अंदाज़ में जनतंत्र और नागरिक के खिलाफ़ सक्रिय है जिसके कई खतरनाक पहलू हमारे सामने आने शुरू हो गए हैं, वे ऐसे परिणाम की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। दूसरा कि सामाजिक मीडिया के तौर पर जिन डिजिटल माध्यमों का विस्तार हुआ है उनमें सहभागिता, सक्रियता और लोकतांत्रिक मिज़ाज का आकर्षण होने के बीच हमें उदासीन या तटस्थ (पैसिव) नहीं रहने देते। पाठक-श्रोता-दर्शक के तौर पर हम इनकी सामग्री के महज़ उपभोक्ता न होकर इसके उत्पादक-निर्माता(प्रोड्यूसर)

भी होते चले जाते हैं।ⁱⁱ दोहरे स्तर की यह सक्रियता हमारे सामने जहाँ असीमित संभावनाओं का विस्तार देती जान पड़ती है वहीं हमारे भीतर ऊब, एकरसता, विचलन, अनिद्रा और असुरक्षा भाव भी पैदा करती है। इस कड़ी में अलग-अलग माध्यमों के ज़रिए इस मीडिया सामग्री और खबरों से लगातार गुज़रने का हमारे मानसिक स्वास्थ्य पर कितना बुरा असर पड़ता है, हमारी रचनात्मकता और जीवन के प्रति साकारात्मक दृष्टिकोण कैसे देखते-देखते अवसाद में तब्दील होने लग जाते हैं और जीवन के प्रति नीरसता पनपने लग जाती है, रॉल्फ़ डॉबेली ने इन सारी बातों को शामिल करते हुए इस पर अलग से एक किताब लिखी है।

खबरें-माध्यम सेहत के लिए हानिकारक है ?

‘दि आर्ट ऑफ़ गुड लाइफ़ और’ ‘दि आर्ट ऑफ़ थिंकिंग क्लियरली’ जैसी किताब से दुनियाभर में मशहूर हुए रॉल्फ़ डॉबेली “स्टॉप रीडिंग द न्यूज़: ए मेनिफेस्टो फॉर ए हैप्पियर, कामर एण्ड वायज़र लाइफ़”(2019) शीर्षक से लिखी इस किताब में न केवल खबरों से गुज़रते रहने की आदत के प्रति आगाह करते हैं बल्कि इस बात पर ज़ोर देते हुए कि इससे दिमागी तौर पर क्या नुक़सान हो सकते हैं, इनसे अपने को काट लेने का आग्रह भी करते हैं। वो लगातार खबरों से गुज़रने की इस आदत को सिगरेट-शराब-गुटखे की तरह ही लत मानते हैं और इससे उबरने की बेहद मुश्किल किन्तु संभाव्य प्रक्रिया अपने पाठकों से साझा करते हैं।ⁱⁱⁱ वो बताते हैं कि किसी भी नशे की तरह इससे पूरी तरह उबरना कहीं ज़्यादा मुश्किल है क्योंकि इसके दावे इतने मज़बूत होते हैं कि इसके भ्रमजाल के टूटने में बहुत वक़्त लग जाता है कि इसे देखा-पढ़ा जाना हमारे हित में नहीं है। लेकिन दिमागी तौर पर स्वस्थ बने रहने, सहज जीवन जीने और लगातार रचनात्मकता बनाए रखने के लिए ऐसा किया जाना बेहद ज़रूरी है।^{iv} इसी क्रम में वो डिजिटल मीडिया और उसके विविध रूपों के खतरनाक पहलुओं की तरफ़ इशारा करते हुए बताते हैं कि मानसिक तौर पर बीमार करने और हमारे भीतर की रचनात्मकता ख़त्म करने के मामले में यह कैसे प्रिंट और टेलिविज़न से भी खतरनाक है। वो लिखते हैं कि

अब तक के माध्यमों ने खबरों को जिन मनोरंजक रूपों में बदलने की कोशिश की और उसके भीतर की गंभीरता को खत्म करने का काम किया, बावजूद इसके वो उतने हानिकारक नहीं रहे जितना कि डिजिटल मीडिया के आने के बाद से हुआ है। इसने तो सीधे-सीधे विध्वंसक रूप अख्तियार कर लिया है जैसे कि सब कुछ तबाह करके ही दम लेगा और हम जब इन सबसे गुज़रते हैं तो इसका सीधा असर हमारे मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ता है।^v किताब की शुरुआत में ऐसा लिखते हुए आखिर-आखिर तक बताते हैं कि कैसे डिजिटल मीडिया और उसकी सामग्री इंसान को दिमागी तौर पर बीमार बनाने का काम करती हैं।^{vi}

गौर किया जाए तो माध्यमों के संदर्भ में रॉल्फ डॉबेली के विचार उसकी अन्तर्वस्तु के साथ-साथ स्वयं माध्यम की प्रकृति को लेकर भी है जो कि मीडिया विमर्श से परंपरागत तरीके से अलग है। उनके इन विचारों को यदि हम डिजिटल मीडिया, जिसका कि बड़ा हिस्सा सोशल मीडिया पर की सक्रियता है, के संदर्भ में देखें तो स्थिति थोड़ी और स्पष्ट हो जाती है।

आमतौर पर हममें से ज्यादातर लोगों की समझ इस बात को लेकर रहती है कि सोशल मीडिया पर अतिसक्रियता का नुकसान वहाँ की सामग्री के कारण है। आखिर डॉबेली भी खबरों और माध्यमों से अपने को अलग करने के प्रति जो आगाह करते हैं, उसके मूल में उनकी सामग्री ही है। ऐसे में यदि सामग्री के स्तर पर सुधार कर लिए जाएं या फिर उन मंचों की तलाश जारी रखें जहाँ लगातार सामाजिक विकास, मानवाधिकार, मानवीय संवेदना और सरोकार की बातें की जाती हैं तो इसका हमें वो नुकसान नहीं होगा जिसकी चर्चा रॉल्फ डॉबेली जैसे विश्लेषक ने की है। सामग्री के विवेकपूर्ण चयन, प्रसारण एवं साझेदारी (शेयरिंग) से इस नुकसान से बचा जा सकता है। व्यावहारिक तौर पर भी देखा जाए तो आखिर जब दुनिया-भर की गतिविधियाँ और कारोबार डिजिटल प्लैटफॉर्म पर हो रहे हैं तो भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति, लोकतंत्र और अधिकार की बातें यदि यहाँ नहीं करेंगे तो फिर कहां करेंगे? माध्यम का यह रूप यदि लोकतांत्रिक ढांचे के भीतर राजकीय व्यवस्था और नागरिकों के सवालों से सीधे-सीधे जुड़ गए हों

और दूसरी तरफ़ इन सबके बीच ट्रोल, फ़ेक न्यूज़ के संवाहक, प्रोपेगेंडा के नुकीले औज़ार यहाँ विस्तार पा रहे हों, ऐसे में हम अपनी सक्रियता बरकरार रखते हुए तथ्यपरक बातें न करें तो फिर तो यह ढांचा कहां तक सुरक्षित रह सकेगा? ये हमारे बीच विकसित वे तर्क हैं जो हमें “ग्लानिमुक्त भाव” से यहाँ अपनी सक्रियता बनाए रखने के लिए बाध्य करते हैं। इसे इस तरह से भी कहा जा सकता है कि यहाँ सक्रिय रहते हुए हम लगातार ऐसे तर्क विकसित कर रहे होते हैं जिनसे कि यहाँ की मौजूदगी को बिना किसी दुश्चिंता के अनिवार्य ठहराया जा सके। ये तर्क डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर हमारी सक्रियता को वैधता प्रदान करते हैं। यह बहुत संभव है कि अलग-अलग पेशे, उम्र, परिवेश और उद्देश्यों से जुड़े लोग अपने ढंग से अपने अलग-अलग तर्क विकसित करते हों और जिनसे उनकी सक्रियता पुष्ट हो पाती हो। लेकिन दिलचस्प बात है कि जिस मज़बूती से हमारे भीतर “ग्लानिमुक्त कोना”(गिल्ट फ्री जोन) निर्मित होता है, डिजिटल डिटॉक्स की अनिवार्यता उतनी ही बढ़ जाती है। यह वह प्रस्थान बिन्दु है जहाँ से डिजिटल डिटॉक्स की ज़रूरत शुरू होती है। “डिजिटल डिटॉक्स” से आशय अपने रोज़मर्रा के जीवन, व्यवहार और फ़ैसले पर डिजिटल-सोशल मीडिया के हावी न होने देने और उसके प्रभाव में आकर अपने बुनियादी स्वभाव से अलग और विपरीत व्यवहार न करने से है। दूसरा कि अपने व्यवहार से ऑफ़लाइन की ज़रूरतों को ऑनलाइन गतिविधियों से पाटने की कोशिश न करने से है। इस संबंध में इंटरनेट व्यसन और व्यवहार के विशेषज्ञ किम्बर्ली यंग, जिन्होंने 1994 में अमेरिका में पहला इंटरनेट ऐडिक्शन क्लिनिक की शुरुआत की, इस संबंध में डिजिटल डिटॉक्स की विस्तार से चर्चा करते हुए वे प्रस्तावित करते हैं कि लोगों से जुड़ने के लिए माध्यम से दूर होना(डिस्कनेक्टिंग) ज़रूरी है। मसलन, खाते समय उपकरण बंद कर देने चाहिए जिससे कि परिवार के साथ जुड़ सकें।^{vii}

डिजिटल डिटॉक्स: माध्यम, सामग्री और तर्क

डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर सक्रिय रहते हुए डिजिटल डिटॉक्स के तर्क को नज़रअंदाज़ करने का मतलब है कि हम धीरे-धीरे एक ऐसे क्लाउड या परिक्षेत्र में घुसते चले

जाते हैं जहाँ डिजिटल-सोशल मीडिया पर अपनी सक्रियता/अतिसक्रियता को लत न मानकर बदलाव के लिए ज़रूरी कार्यवाही मानकर उसकी गिरफ्त में जकड़ते चले जाते हैं और इस सिरे से सोचने में चूक जाते हैं कि लगातार सक्रियता के कारण दिमागी तौर पर हमारी जो असहज स्थिति बनती है, हम मानसिक रोग के शिकार होते चले जाते हैं, उसका संबंध महज़ सामग्री से नहीं बल्कि माध्यम, उसकी प्रकृति और उसके आग्रही (डिमांडिंग) होने से है। ऐसे में यदि कोई ट्रोल का नकारात्मक काम न करके दिन-रात सूक्तियां और नीति-वचन ही अपडेट करता रहा है और आयी हुई टिप्पणियों पर जवाब देता रहे तो भी वो इस गिरफ्त से बाहर नहीं है। दूसरा, कि ऐसे प्रयोक्ता जो न तो किसी तरह की सामग्री साझा करते हैं और न ही किसी की लिखी, साझा की गयी सामग्री पर टिप्पणी करते हैं, बावजूद इसके लगातार स्क्रीन-स्करोल की आदत के शिकार हो चले हैं, तो उनकी स्थिति घोषित तौर पर सक्रिय लोगों से कम चिंताजनक नहीं है। इस संबंध में सोशल मीडिया पर सालों से सक्रिय रहे लोगों ने समय-समय पर लिखा है कि वो अप्रत्याशित ढंग से इन्स्टाग्राम-फ़ेसबुक की टाइमलाइन स्करोल करते रह जाते हैं और इन सबमें उनका अच्छा-खासा समय निकल जाता है।^{viii}

फ़िक्की-केपीएमजी, मीडिया और मनोरंजन उद्योग पर आधारित जो अपनी वार्षिक रिपोर्ट जारी करती है, उनमें ऐसे प्रयोक्ता और उनकी गतिविधियों को अलग से रेखांकित करती है। हालांकि वहाँ उन्हें डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर उनकी इस गुप चुप गतिविधियों और कारोबार के विस्तार के संबंध में चिन्हित करती है लेकिन वे इस प्लैटफ़ॉर्म के अनिवार्य घटक हैं, यह स्पष्ट है। गुप चुप गतिविधियों में सक्रिय ऐसे प्रयोक्ता की मानसिक स्थिति पर क्या असर पड़ता है और घोषित तौर पर सक्रिय प्रयोक्ता जो कि सामग्री साझा करने से लेकर उत्पादन करने तक का काम करते हैं, किस रूप से भिन्न होते हैं, यह आनेवाले समय में शोध का एक स्वतंत्र विषय हो सकता है। ज़ाहिर-सी बात है कि इस स्करोल भर किए जाने का संबंध महज़ सामग्री से न होकर उस आदत से भी है जो उनके भीतर ऊब और बेचैनी पैदा करती है। डिजिटल मीडिया के आग्रही मिज़ाज के होने की जो बात कही

जाती है जिसे कि दूसरे सिरे से प्रयोक्ता की “बार-बार स्क्रीन देखने की आदत” के तौर पर चिन्हित किया जाता है, इसका संबंध भी सामग्री से न होकर संभाव्य के उस मनोविज्ञान की गिरफ्त में होने से है जिसमें अवसर और आशंका की दोनों ही स्थितियों के प्रति जिज्ञासा पनपती है। इस जिज्ञासा की बारंबारता इतनी अधिक होती है कि सामग्री का सवाल बहुत पीछे छूट जाता है और आदत ही असामान्य होने का संकेत करने लग जाती है। एक तीसरी स्थिति यह बनती है कि यदि कोई प्रयोक्ता इस माध्यम से अपने को पूरी तरह काट लेता है किन्तु ऐसे लोगों के बीच घिरा है जिन्हें अपने परिचितों के बीच डिजिटल प्लैटफॉर्म की सामग्री साझा करने की स्वाभाविक आदत पड़ चुकी है, उनकी इस आदत से प्रयोक्ता पूरी तरह डिटॉक्स की स्थिति में नहीं रह पाता। औपचारिकतावश और कई बार संबंधों पर नकारात्मक असर न पड़ने की कोशिश में वापस उन्हें प्लैटफॉर्म पर जाना पड़ता है जहाँ से वो कटना चाहते हैं। ऐसे में डिजिटल डिटॉक्स के बारे में सोचते हुए इस सिरे से भी सोचना अनिवार्य हो जाता है कि यदि मानवीय संबंधों और साझेपन का विस्तार भी इसी प्लैटफॉर्म पर हुआ है तो ऑफ़लाइन होने की स्थिति में उन्हें किस तरह बरतना होगा? इस संबंध में भारतीय प्रयोक्ता के संदर्भ में सोनाली आचार्य ने शुरुआती शोध किया है। अपनी किताब में उन्होंने “माय फ़ेसबुक फ़ैमिली: ग्रोइंग अप ऑनलाइन” शीर्षक के अन्तर्गत इसकी विस्तार से चर्चा की है। आचार्य का यह काम उस दौर का है जिसमें सोशल मीडिया की हद लिखित पाठ तक सीमित रही थी, बहुत हुआ तो सेल्फी तक जाती थी और रील, शॉट्स और स्टोरी के स्तर तक दायरे का विस्तार नहीं हुआ था।

सोशल मीडिया की लत: भारतीय संदर्भ

अपनी किताब “लुक अप: सोशल मीडिया ऐण्ड दि ऐडिक्शन नो वन इज़ टॉकिंग अबाउट”(2016) में सोनाली अचार्य ने केस स्टडी के तौर पर अलग-अलग पेशे से जुड़े लोगों की सोशल मीडिया प्रोफ़ाइल शामिल करते हुए उनका साक्षात्कार लिया है। तमाम तरह की विसंगतियों और दुश्वारियों की चर्चा करते हुए कुछ प्रोफ़ाइल साफ़ शब्दों में स्वीकार करते हैं कि वो जो और जैसे हैं, बिना सोशल

मीडिया के वो वैसे नहीं दिख सकते। उनका आधा जीवन सोशल मीडिया में समाया हुआ है जिसे वो खुद से अलग नहीं कर सकते।^x ऐसे प्रसंग पर मैट स्पायसर की “इन्ग्रिड गोज़ वेस्ट”(2017) फ़िल्म ही है जिसमें सोशल मीडिया प्रभावक (इन्फ़्लुएंसर) टेलर (एलिज़ाबेथ ऑल्सेन) सोशल मीडिया पर अपनी ऐसी छवि प्रस्तुत करती है, लगातार पोस्ट और तस्वीरें साझा करती है और इन्ग्रिड उससे इस हद तक प्रभावित होती है कि न केवल सब कुछ वैसा ही करना शुरू करती है बल्कि टेलर से मिलने की उम्मीद में लॉस एंजेलिस पहुँच जाती है। पूरी फ़िल्म सोशल मीडिया की गिरफ़्त में पड़कर फ़ितूरी व्यवहार (ऑब्सेशन) पर केंद्रित है जो दर्शकों के बीच यह संदेश देने की कोशिश करती है कि इसके बेतहाशा प्रयोग से हम सामान्य दिखते हुए भी कैसे असामान्य हो चुके होते हैं। आचार्य की किताब सोशल मीडिया को बाकायदा लत बताते हुए इससे अपने को अलग या कम से कम संतुलित तौर पर इस्तेमाल करने की प्रेरणा देने के इरादे से लिखी गयी है, आचार्य ने “ऑफ़लाइन ऐण्ड लविंग इट” शीर्षक से एक स्वतंत्र अध्याय लिखा है। यह अध्याय डिजिटल डिटॉक्स की ओर ले जाता है, जिसमें न्यू यॉर्क विश्वविद्यालय में पढ़ रहे 18 साल के एक भारतीय छात्र के इंटरव्यू के हवाले से प्रस्तावित किया गया है कि यह सच है कि ऑफ़लाइन दुनिया हमेशा खुशियों से भरी नहीं होती, यहाँ रहते हुए भी हम उदास होते हैं, लेकिन यदि इसका विकल्प या इससे निजात का तरीका सोशल मीडिया पर सक्रिय होने के बजाय ऑफ़लाइन के भीतर ही ढूँढना शुरू करते हैं तो अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति में होते हैं।^x

सोशल मीडिया पर अनुपस्थिति और छूट जाने डर (फोमो)

साल 2020 में अमेरिकन अकाउंटिंग एसोसिएशन ने “सोशल मीडिया कन्टेंट ऐंड सोशल कम्पैरिज़न्स: ऐन एक्सपेरिमेंटल एग्ज़ामिनेशन ऑफ़ देयर एफ़ेक्ट ऑन ऑडिट क्वालिटी” शीर्षक से एक रिपोर्ट प्रकाशित की। इस रिपोर्ट में इस सिरे से अध्ययन किया गया कि सोशल मीडिया पर सक्रिय जो लोग असुरक्षा भाव और अप्रासंगिक हो जाने के डर से लगातार बने रहते हैं, उनके कामकाज के तरीके और व्यवहार पर इसका बेहद ही नकारात्मक असर पड़ता है। फ़ोमो (फ़ियर ऑफ़

मिसिंग ऑउट) यह वह मनोदशा है जो उन्हें अक्षम बनाने की ओर ले जाती है जिनमें काम में गड़बड़ी करने से लेकर यादाश्त के कम होने तक की स्थिति बनती है। ऑडिटिंग (खंड 40, अंक 01) शोध-पत्र में छपी इस रिपोर्ट में इस बात का विस्तृत ब्यौरा शामिल है कि अध्ययन के लिए कैसे उन ऑडिटर के बीच परीक्षण किया गया जो कि बार-बार सोशल मीडिया पर जाकर सामग्री देखते हैं(स्टेटस चेक करना आदि) और किसी न किसी रूप में उससे दिनभर जुड़े रहते हैं और दूसरे जो इनसे बिल्कुल अलग पूरी तरह अपने काम पर केंद्रित रहते हैं। इनदोनों को लेकर एजेंसी को अलग-अलग परिणाम मिलते हैं जिनमें कि काम में अशुद्धियों से लेकर अभिरूचि के कम होने की बात शामिल है।

साल 2021 के नवम्बर महीने में पहले तो छिटपुट ढंग से और आगे चलकर विस्तार से खबर आनी शुरू हुई कि फ़ेसबुक ने अपने प्लैटफ़ॉर्म और प्रयोक्ता को लेकर आंतरिक सर्वेक्षण कराया है। इस सर्वेक्षण में पाया गया कि उसके उपयोगकर्ता में से 12.5 प्रतिशत (लगभग 34 करोड़ लोग) लोगों को इसकी लत नुकसान पहुँचा रही है। फ़ेसबुक की लत उनकी नींद, कामकाज और बच्चों की देखभाल को नुकसान पहुँचा रही है।^{xi} अमेरिका के अंग्रेजी अखबार द वॉल स्ट्रीट जर्नल की आधिकारिक वेबसाइट पर “द फ़ेसबुक फाइल्स: ए वॉल स्ट्रीट जर्नल इन्वेस्टिगेशन” शीर्षक से एक पूरा खंड है जिसमें कि फ़ेसबुक-इन्सटाग्राम से जुड़ी 17 स्टोरी है। इन स्टोरी में से कुछ का संबंध डिजिटल डिटॉक्स की अनिवार्यता की ओर संकेत करते हैं, मसलन

- Facebook knows Instagram is Toxic for Many Teen Girls, Company Documents Show. (जॉर्जिया वेल्स, जेफ़ हॉर्वित्ज एवं दीपा सीथारमन)
- Facebook Tried to Make Its Platform a Healthier Place. It Got Angier Instead.^{xii} (कीच हेगे एवं जेफ़ हॉर्वित्ज)
- Facebook’s Effort to Attract Preteens Goes Beyond Instagram Kids, Documents Show.(जॉर्जिया वेल्स एवं जेफ़ हॉर्वित्ज)

- Is Facebook Bad for You? It Is for About 360 Million Users, Company Surveys Suggest.(जॉर्जिया वेल्स, दीपा सीतारमन एवं जेफ़ हॉर्वित्ज).

द वॉल स्ट्रीट जर्नल की ये खोजी रिपोर्ट बहुत विस्तार से सोशल मीडिया जिसका संदर्भ फ़ेसबुक-इन्स्टाग्राम है, उन बातों की तरफ़ इशारा करती है जिनका संबंध व्यक्ति स्तर पर इसके प्रयोग के व्यसन की हद तक बदल जाने और डिजिटल डिटॉक्स की अनिवार्यता से है। सामग्री के स्तर पर अध्ययन के साथ-साथ माध्यम की प्रकृति और व्यक्ति का इससे जुड़ने की पूरी प्रक्रिया को समझने के लिए ये अनिवार्य रिपोर्ट हैं।

बेहतर और बदलाव की संभावना के साथ डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर की सक्रियता कैसे आगे चलकर “फ़ोमो” से जुड़ता चला जाता है, इसे फ़िलहाल ऑनलाइन बनाम ऑफ़लाइन के तौर पर देखने और अध्ययन करने का चलन शुरु हुआ है। इस दिशा में पिछले कुछ वर्षों से कारोबारी मीडिया का “न्यूज़ पैटर्न ” भी इस दिशा की ओर सरकना शुरु हुआ है जहाँ डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर अपनी आक्रामक मौजूदगी के बीच वो इसी तरह की बायनरी तैयार करते हुए शीर्षक का प्रयोग करते हैं कि ऐसे शीर्षकों से गुज़रते हुए पाठक-दर्शक इसे नुक़सानदेह मानना शुरु कर दे। विभिन्न प्रतियोगिता परीक्षाओं के परिणाम संबंधी ख़बर प्रकाशित करने के क्रम में इसकी गति और ज़ोर पकड़ती है:

- सोशल मीडिया से दूरी बना यशार्थ को मिली 12वीं रैंक^{xiii}
- 12 वीं बोर्ड टॉपर दिव्या की सक्सेस स्टोरी: सोशल मीडिया से दूर बनायी इसलिए बनी स्टेट टॉपर^{xiv}
- यूपी बोर्ड: सोशल मीडिया से दूरी दिला सकती है एग्ज़ाम में अच्छे नंबर, जेडी^{xv}
- सोशल मीडिया बच्चों के दिमाग को बना रहा है छोटा, क्या हमें भी US के इस स्कूल की तरह सोचना होगा ?^{xvi}

- सोशल मीडिया से दूरी, सफलता के लिए ज़रूरी^{xvii}

ऐसे शीर्षक के साथ छपी रिपोर्ट डिजिटल-सोशल मीडिया के असर और प्रयोक्ता के दिल-दिमाग पर पड़नेवाले असर को समझने में बहुत मदद तो नहीं करती, महज़ सपाट ढंग से जनहित में जारी निषेधात्मक संदेश जैसा असर पैदा करने की कोशिश ज़रूर करती है। यह अलग बात है कि अगले कुछ ही घंटे बाद ऐसे ही मीडिया प्लैटफॉर्म हिट्स और लाइक्स को केन्द्र में रखकर ऐसी खबर या स्टोरी प्रकाशित करते हैं जिसका सार डिजिटल प्लैटफॉर्म से भी रातोंरात अकूत सम्पत्ति और लोकप्रियता हासिल की जा सकती है, ये होता है। लिहाज़ा ऐसी रिपोर्ट से लत और डिटॉक्स से जुड़े सारे सवाल बहुत पीछे छूट जाते हैं।

साल 2018, में हंस: जनचेतना का प्रगतिशील कथा मासिक ने रविकांत और विनीत कुमार के संपादन में न्यू मीडिया/सोशल मीडिया का प्रकाशन किया। पत्रिका में इस क्षेत्र के प्रयोक्ता, विशेषज्ञ, पेशेवर और डिजिटल कारोबारी मीडिया के अलग-अलग संस्थानों में कार्यरत मीडियाकर्मियों के आलेख एवं साक्षात्कार प्रकाशित किए गए। यह अंक न्यू मीडिया/ सोशल मीडिया के शुरुआती दौर से लेकर 2018 तक के बीच बनती-बदलती संभावना और इसके स्याह पक्ष का लेखा-जोखा है। अंक में 'द लल्लनटॉप' के संपादक सौरभ द्विवेदी ने नए मीडियाकर्मियों को सुझाव देते हुए कहा कि नए माध्यमों की लोकप्रियता के बीच किताबें पढ़ने और ऑनलाइन गतिविधियों को नज़रअंदाज़ करना ठीक नहीं होगा। अब तो द्विवेदी सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म पर बेहद सक्रिय हैं किन्तु इस अंक के लिए की गयी बातचीत में जोर देकर कहा कि इन प्लैटफॉर्म से दूरी बनाए रखना बेहद ज़रूरी है। इसके साथ ही अतिसक्रियता हमारी रचनात्मकता और सोचने-समझने की क्षमता पर नकारात्मक असर पैदा करती हैं। खूब पढ़ना चाहिए और किताबों का साथ बनाए रखना चाहिए। इसी अंक में अजय शर्मा का आलेख शामिल है। शर्मा पिछले कुछ वर्षों से "स्टोरीनाॅमिक्स" नाम से रिपोर्ट प्रकाशित करते हैं। यह रिपोर्ट वर्चुअल स्पेस के बदलते परिवेश और पैटर्न को समझने में विशेष मदद करती है। यहां तक कि सालभर में सोशल मीडिया के किस प्लैटफॉर्म पर किन

शब्दों का और कितनी बार इस्तेमाल किया गया, ये सारे ब्यौरे इस रिपोर्ट में शामिल होते हैं। फिल्कार-गीतकार और शुरुआती दौर के इंटरनेट प्रयोक्ता वरुण ग़ोवर अपनी लंबी बातचीत में इस बात की तरफ इशारा करते हैं कि अब स्थिति यह हो गयी है कि डिजिटल प्लैटफॉर्म पर सामग्री से पहले उसका अर्थशास्त्र तैयार होता है। यह अच्छी बात भी है लेकिन इससे बहुत कुछ पीछे छूटता जा रहा है जिसमें रचनात्मकता और सुकून शामिल है। कुल मिलाकर रविकांत के संपादकीय से लेकर इन आलेखों-साक्षात्कार में डिजिटल डिटॉक्स की अनिवार्यता के पर्याप्त संकेत मिलते हैं।

सोशल मीडिया: आलोचना भी, सक्रियता भी

पिछले साल नेटफ़्लिक्स पर जेफ़ ऑर्लोस्की द्वारा निर्देशित “द सोशल डायलेमा(2020)” नाम से एक डॉक्यूमेंट्री फिल्म आयी। यह फिल्म इस लिहाज़ से ज़रूरी है कि इसके ज़रिए हम अपने आसपास “नोमोफ़बिया” और “फ़ोमो” के शिकार लोगों की पहचान करके इससे उन्हें उबारने की कोशिश कर सकें और दूसरा, कि समय-समय पर हम खुद के भीतर उन लक्षणों की पहचान कर सकें जिनमें हमें ऐसा लगने लगता है कि हम इस माध्यम और प्लैटफ़ॉर्म से दूर हुए तो पीछे छूट जाँगे या फिर मोबाइल के बिना हम रह ही नहीं सकते। चूँकि फिल्म में फ़ेसबुक, ट्विटर और इन्स्टाग्राम जैसे सोशल मीडिया प्लैटफ़ॉर्म के पूर्व अधिकारियों के लंबे-लंबे बयान और अनुभव हैं तो हमारे भीतर से उस भ्रम के टूटने में थोड़ी आसानी हो जाती है जिससे कि रॉल्फ़ डॉबेली को ख़बरों के मामले में भारी मशक्कत करनी पड़ी। हालांकि डॉबेली ने भी ये सारी बातें सालों के अपने अनुभव और व्यवहार के बाद लिखी है। ‘द सोशल डायलेमा’ फिल्म देखने के बाद उन दिनों कुछ दर्शकों ने इसकी चर्चा अपनी टाइमलाइन पर की और इस बात की घोषणा भी कि अब वे इस माध्यम से अपने को अलग कर रहे हैं। उनका खुद से सार्वजनिक तौर पर किया गया यह करार ज़्यादा दिन टिका नहीं। पत्रकार मनीषा पांडेय ने लिखा- “सोशल मीडिया फिल्म देखने के बाद मैं अब अपना अकाउंट डिलीट करके खुद को इस दुष्चक्र से आज़ाद करना चाहती हूँ।”^{xviii} कुछ दिनों बाद

मनीषा पांडेय न केवल वापस सोशल मीडिया पर सक्रिय हो गयीं बल्कि अब अपने बिल्ले रूमी की गतिविधियों को दर्ज करने के लिए इन्स्टाग्राम पर अलग से अकाउंट बनाया है जिस पर वो नियमित रूप से रूमी की वीडियो और रील साझा किया करती हैं।

इसी तरह जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर और भगत सिंह के अध्येता चमन लाल ने फिल्म देखने का आग्रह करते हुए 18 अक्टूबर 2011 की फ़ेसबुक पोस्ट दोबारा साझा किया-

“I am trying to discipline my time, it is the facebook, which affects my all other schedules, tried yesterday to keep away, again I am here today, but shall keep on trying to be away from this ‘Mayalok’-मायालोक (Virtual World) and be on earth (Dharti-धरती)।मायालोक हमेशा ही धरती से ज्यादा आकर्षक रहता है, जगदीश्वर बताएं इस मायालोक से कैसे बचें? Message is that if I succeed in avoiding this virtual world, then please send me any urgent message, if at all it is there, to my email address, which I hope has still the touch of earth and not turned into mayalok!”^{xix} प्रोफेसर चमन लाल पहले की तरह सोशल मीडिया पर सक्रिय हैं।

हिन्दी ब्लॉगिंग से सोशल मीडिया पर लोकप्रिय हुए दिल्ली विश्वविद्यालय के ज़ाकिर हुसैन महाविद्यालय के प्राध्यापक विजेन्द्र चौहान ने इस फिल्म से गुज़रने के बाद सोशल मीडिया के प्रति इसी तरह की उदासीनता ज़ाहिर की और उनकी टाइमलाइन पर लंबे समय तक सन्नाटा पसरा रहा। अब सोशल मीडिया पर उनकी पहचान सिविल सेवा सर्विसेज़ की तैयारी करानेवाली कोचिंग संस्था (दृष्टि आईएसएस) के लिए मॉक इंटरव्यू लेनेवाले व्यक्ति के तौर पर है। उनकी वीडियो-रील की हिट्स लाखों में होती हैं, लिहाज़ा सोशल मीडिया पर लिखने के प्रति उदासीन हो चले विजेन्द्र चौहान अब रील और स्टोरी में लगातार नज़र आते हैं और पूर्ववत सक्रिय हैं। फ़ेसबुक की सर्चबॉक्स में इस फिल्म का नाम लिखने और पोस्ट बटन

दबाने के बाद ऐसी दर्जनों पोस्ट आती हैं जिनमें लोगों ने सोशल मीडिया से दूरी बनाने की बात की और अब पहले की तरह न केवल सक्रिय हैं बल्कि रील-स्टोरी-शॉर्ट्स जैसे अद्यतन रूपों में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक दिलचस्पी लेते हैं, उन पर समय खर्च करके लिखने के लिए बाकायदा तैयारी करते हैं। यही वो बिन्दु है जहाँ से सवाल शुरू होते हैं कि जब प्रयोक्ता को सोशल मीडिया-डिजिटल प्लैटफॉर्म की हकीकत मालूम है और वो सिनेमा, आलेख और शोध के ज़रिए इनकी कारगुजारियों से अवगत हैं तो ऐसे कौन से कारण हैं जो इन्हें बार-बार इस माध्यम पर बने रहने के लिए प्रेरित या कहें कि बाध्य करते हैं ? इस सवाल का जवाब यदि राजस्व और उसकी संभावना है तब तो डिजिटल डिटॉक्स को लेकर की जानेवाली बात यहीं खत्म हो जाती है।

माध्यम, विमर्श और डिजिटल मीडिया परिदृश्य

दुनिया में एक के बाद एक जितने भी नए माध्यम आए हैं, उनके आने के साथ ही दो सिरे से विमर्श चलते रहे हैं- एक तो यह कि उनके होने से मनुष्य का जीवन कितना सहज, बेहतर और आपस में संबद्ध हुआ है और दूसरा कि उसकी प्रकृति के कारण किस तरह के प्रभाव पैदा होते हैं और उनसे क्या नुकसान है? माध्यमों की प्रकृति के सिरे से खास तौर पर टेलिविज़न के आने के बाद से विमर्श का सिलसिला कहीं ज़्यादा व्यवस्थित ढंग से शुरू हुआ। रेमण्ड विलियम्स ने तकनीक को मानव सापेक्ष बताते हुए भले ही उसके प्रयोग किए जाने के अनुसार नफ़ा-नुक़सान की बातें विस्तार से अपनी किताब टेलिविज़न: टेक्नॉलजी ऐण्ड कल्चरल फ़ॉर्म (1974) में की लेकिन वहीं मार्शल मैक्लूहन ने माध्यमों की प्रकृति के अनुरूप मनुष्य पर पड़नेवाले इसके प्रभाव का अध्ययन किया। वो अपनी किताब “अन्डरस्टैंडिंग मीडिया: दि एक्सटेंशन ऑफ़ मैन (1964)”^{xx} के दूसरे अध्याय ‘मीडिया हॉट एण्ड कोल्ड’ में माध्यमों का विभाजन करते हुए टेलिविज़न को जब गरम माध्यम बताते हैं तो उसके पीछे उनका तर्क है कि यह हमारी कल्पनाशीलता, रचनात्मकता और सक्रियता को शिथिल करने का काम करता है। इसका चरित्र ऐसा है कि हम उससे परे कुछ और सोच नहीं पाते। मैक्लूहन इसके

लिए “हाय डेफ़िनिशन” शब्द का प्रयोग करते हैं जिसका आशय है कि ऐसा माध्यम जिसमें कि संप्रेषण के सारे कारक मौजूद हो। सुनने में तो हमें यह बड़ा अच्छा लगता है कि सही तो है कि एक ही माध्यम में सूचना, ज्ञान, भाव एवं संवेदना के सारे कारक मौजूद हैं लेकिन मैक्लूहन इसे मनुष्य की प्रकृति और उसके मस्तिष्क के लिए ठीक नहीं मानते। उनके अनुसार जिस माध्यम में जितने कम कारक होंगे, मनुष्य उसके ज़रिए उतना अधिक ज्ञान को लेकर समृद्ध, रचनाशील और जानकारी हासिल करने के प्रति सक्रिय हो सकेगा।

इंटरनेट और सोशल मीडिया के तक्ररीबन पचास साल पहले मार्शल मैक्लूहन की इस गरम माध्यम और ठंडे माध्यम की अवधारणा की जमकर आलोचना हुई। रेमंड विलियम्स इसे मानव सापेक्ष बताकर मैक्लूहन के तर्कों का खंडन ही करते हैं जिसके संकेत उनकी किताब में लगातार मिलते हैं। इसके साथ ही जॉन फ़िस्के और जॉन हर्टली ने “रीडिंग टेलिविज़न(1978)” में तो इस तर्क को ही उल्टा लाकर खड़ा कर दिया कि दरअसल टेलिविज़न की आलोचना किए जाने के पीछे यथार्थ को लेकर जो तर्क प्रस्तावित किए जाते हैं, वही अपने आपमें भ्रामक है। सच तो यही है कि यथार्थ स्वयं में निर्मित की जानेवाली चीज़ है और यह व्यक्ति और संस्थान के हाथ में है कि वो अपनी सुविधा और ज़रूरत के अनुसार किस तरह के यथार्थ की निर्मिति करता है?^{xxi} इसी क्रम में वे इसे स्वतंत्र माध्यम न मानकर पूर्ववर्ती माध्यमों के समुच्चय के रूप में देखने की बात करते हैं।

लेकिन मार्शल मैक्लूहन की माध्यम संबंधी यह अवधारणा इतनी लोकप्रिय और मीडिया एवं सांस्कृतिक अध्ययन के संदर्भ में इस हद तक स्थापित है कि हर नए माध्यम के आने के बाद एक बार पीछे मुड़कर देखना हमारे लिए ज़रूरी हो जाता है। मार्शल मैक्लूहन के हिसाब से सोचिए तो टेलिविज़न गरम माध्यम है क्योंकि इसमें एक ही साथ ध्वनि, दृश्य, रंग और गति सब शामिल होते हैं और ऐसा होने से मनुष्य की रचनात्मकता एवं दिमागी स्तर का सुकून भंग होता है तो फिर डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म का सोशल मीडिया किस हद तक जाता है? ज़ाहिर है कि यह सवाल महज़ उसकी सामग्री के स्तर पर नहीं, उसकी प्रकृति को लेकर

भी है। इधर जॉन फ़िस्के के अनुसार टेलिविज़न यदि पूर्ववर्ती माध्यमों का समुच्चय है तो इस क्रम में सोशल मीडिया को देखा जाय तो यह समुच्चयों का समुच्चय हुआ। हम-आप समुच्चयों के समुच्चय इस माध्यम पर छह-आठ-दस...घंटे जो बिता रहे होते हैं उस दौरान लगातार हम सरोकारी, मानवीय पक्ष एवं संवेदना से जुड़ी सामग्री साझा करते हुए अपने को “गिल्ट फ्री ज़ोन”में ले जाने की कोशिश करते हैं, अपने आसपास के बौद्धिक ज़मात को सक्रिय देखकर आश्वस्त होते हैं कि हम सही दिशा में जा रहे हैं, लेकिन इस सिरे से शायद नहीं सोचते कि सामूहिक स्तर पर प्रभाव पैदा करने के क्रम में व्यक्तिगत स्तर पर हमारे ऊपर क्या प्रभाव पड़ रहे हैं और क्या हम कभी महसूस भी करते हैं कि हमें इस माध्यम से थोड़े समय के लिए दूर हो जाना चाहिए? यदि हम ऐसा सोचना शुरू करें और अपने को इससे काटने की कोशिश करें और इस कोशिश में अड़चनें आने लग जाएँ तो यह इस बात का संकेत है कि हम सोशल मीडिया की गिरफ़्त में इस हद तक हैं कि हम कभी भी मानसिक स्तर पर इसका खमियाज़ा भुगत सकते हैं। यह स्वभाव में चिड़चिड़ापन से लेकर किसी काम में मन न लगने, ध्यान भटक जाने, भूलने लग जाने और आभासी स्तर पर समस्याओं का हल निकालने के तौर पर हो सकता है। ऐसे लोगों से आप बात करते हुए भी जुड़ाव महसूस नहीं कर पाते हैं और पूरा समय इस आशंका में निकल सकता है कि पता नहीं कब ये वापस से स्क्रीन की दुनिया में खो जाएँगे।

मैं अपने आसपास के लोगों को देखता हूँ कि वो बातचीत की शुरुआत करने के पाँच से सात मिनट के बाद उसे उन प्रसंगों से जोड़ने लग जाते हैं कि मोबाइल फ़ोन निकालकर कोई तस्वीर, लिंक या पोस्ट दिखाने की ज़रूरत पड़ जाए। कई बार वो फ़ोन पर इनबॉक्स कर देते हैं। उसके बाद वो कुछ और देखने लग जाते हैं या फिर दूसरा प्रसंग ऐसा छेड़ते हैं कि फिर मोबाइल की ज़रूरत पड़ जाए। एक घंटे की बातचीत में ऐसा वो दस से बारह बार करते हैं और एक स्थिति ऐसी भी आती है कि वो मोबाइल पर रम जाते हैं और बातचीत का सिरा हवा में लटकता रह जाता है। इस बीच कई बार सॉरी-सॉरी और फिर वापस से मोबाइल स्क्रीन पर

झुकी आँखें! ऐसे लोगों के बीच से दस मिनट के लिए मोबाइल गायब कर दिए जाएँ तो वो बेचैन हो उठते हैं। संभवतः यह सब देखकर आपको गुस्सा आए, उनके इस व्यवहार से आप अपमानित महसूस करें और दोबारा उनके पास न जाना चाहें। लेकिन इन लक्षणों पर गौर करें तो दरअसल वो “नोमोफ़ोबिया” के शिकार व्यक्ति हैं जिन्हें मोबाइल फोन हाथ में, पास में न होने पर घबराहट होने लगती है, लगता है कोई चीज़ पीछे छूट जा रही है। यही स्थिति हाथ में मोबाइल होने पर बार-बार स्क्रीन देखने या स्क्रोल करने को लेकर होती है और ऐसे व्यक्ति ये सब करते हुए घंटों समय बिता सकते हैं। आपके साथ होते हुए भी व्यवहार से जतला देते हैं कि अभी के लिए इतना ही, फिर मिलना होता होगा। लेकिन आप जैसे ही उनसे छूटते हैं, इनबॉक्स में दोबारा से बातचीत शुरू हो जाती है। सामने बैठे होने पर जो क्या बात करें, समझ नहीं आ रहा होता, इनबॉक्स में एक के बाद एक बेहद ही सहज अंदाज़ में बातें सामने आने लग जाती हैं। ये सारे लक्षण बताते हैं कि वे डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म और सोशल मीडिया की जकड़ में हैं और इससे निकलने के लिए डिजिटल डिटॉक्स किसी भी बीमारी के इलाज़ की तरह ही ज़रूरी है।

मार्शल मैक्लूहन ने माध्यमों की सामग्री के बजाय उसकी प्रकृति के अनुरूप उसके प्रभाव एवं मनुष्य द्वारा व्यवहार किए जाने, न किए जाने की बात की तो छात्र जीवन में मुझे ये बात अटपटी लगी। ऐसा लगा कि माध्यमों को एक खास तरह के नियतिवाद की तरफ़ धकेलने का काम किया गया है और इस क्रम में सामग्री का सवाल बहुत पीछे छूट गया है। लेकिन अब जब मैं सोशल मीडिया पर “ट्रोल मार्का सामग्री” जिसका मुख्य उद्देश्य संप्रेषण की संभावना को खत्म करके खदेड़ने, भाषिक स्तर की हिंसा पैदा करने, जिसके भीतर सामाजिक हिंसा पनपने की संभावना मौजूद हो, और दूसरी तरफ़ जन सरोकार एवं मानवीय सरोकारों से पगी सामग्री से गुज़रता हूँ जिसमें कि एक स्तर के बाद आत्मकेंद्रित, वास्तविक परिस्थितियों से एकदम कटा हुआ और व्यावहारिक स्तर पर मोहभंग हो जाने की

हृद तक जाने की संभावना लिए हुए हो, तो हमारे लिए खुद से यह सवाल करना ज़रूरी है कि डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर हमारी सक्रियता यदि लत में बदलती जा रही है तो फिर उससे पार पाने का तरीका व्यक्तिगत होगा या फिर सामूहिक और यदि दोनों तो हमें इस दिशा में क्या कोशिशें करनी होंगी?

न्यू मीडिया के उद्भव-काल से ही इस अध्ययन क्षेत्र में शेरी टर्कल की पहचान एक ऐसे ऐन्थ्रॉपॉलजिस्ट की है जो न केवल अपने शोध एवं लेखन कार्य से डिजिटल मीडिया की लत और उनके कुप्रभावों से लोगों को अवगत कराती हैं बल्कि अभियान की शकल में दुनिया-भर के मंचों से इस पर बात भी करती हैं। इस संबंध में टेड टॉक की “कनेक्टेड, बट अलोन?” शीर्षक से वीडियो जो यूट्यूब पर उपलब्ध है, उनके इस अभियान से हमारा ठीक-ठाक परिचय कराता है।^{xxii} टर्कल अपनी किताब “रिक्लेमिंग कान्वर्सेशन: द पावर ऑफ़ टॉक इन अ डिजिटल एज(2015)” का बड़ा हिस्से केस स्टडी शामिल करने और उनका विश्लेषण करने में लगाती हैं। पूरी किताब इस बात पर केंद्रित है कि आमने-सामने बैठकर की जानेवाली बातचीत और साझेपन को मशीन और डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म से अपदस्थ नहीं किया जा सकता। लेकिन यदि ऐसा किया जा रहा है और हम सब इसके अभ्यस्त हो चले हैं तो इनके क्या नुकसान हैं, इसकी चर्चा किताब में विस्तार से शामिल है। टर्कल ने अध्ययन की सुविधा के लिए संवाद को प्रतीकात्मक रूप में कुर्सी माना है और इसी आधार पर अध्याय का विभाजन किया है। पहले अध्याय(वन चेयर) में आंतरिक संवाद को डिजिटल स्तर पर व्यक्त करने का हमारे दिलो-दिमाग पर क्या असर पड़ता है, इससे विश्लेषण शुरू करते हुए ‘टू चेयर्स’ यानि परिवार, दोस्ती और प्रेम, ‘थ्री चेयर्स’ यानि शिक्षा और काम और ‘फ़ोर्थ चेयर्स’ “दि एण्ड ऑफ़ फॉर्गेटिंग: व्हाट इ वी फॉर्गेट हवेन वी टॉक टू मशीन?” के अन्तर्गत उन्होंने जिन मानविकी और मनोवैज्ञानिक खतरों की ओर संकेत किया है, वे सारे डिजिटल डिटॉक्स के तर्क को प्रस्तावित करते हैं।^{xxiii}

हम जब अपने आसपास के परिवेश के बीच डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म और माध्यमों पर लोगों की सक्रियता देखते हैं तो इनमें रोज़गार, अवसर और राजस्व की एक बड़ी

संभावना दिखाई देती है। आए दिन मुख्यधारा का मीडिया इनके बीच की उपलब्धियों को शामिल करके जिस अंदाज़ में एक प्रतीकात्मक रूप देने का काम करता है, डिजिटल डिटाॅक्स की अनिवार्यता या इसकी चेतना फ़िलहाल अनावश्यक एवं दूर की कौड़ी लगती है। लेकिन जिस तरह 'द सोशल डायलेमा' डॉक्यूमेंट्री फिल्म में सोशल मीडिया के विविध प्लैटफ़ॉर्म पर बड़े-बड़े पदों पर काम कर रहे लोगों के बयान शामिल करके उन माध्यमों के प्रति लोगों को आगाह करने का काम किया गया, पिछले कुछ वर्षों से यह काम दुनिया-भर के अकादमिक विमर्शों में तेज़ी से शुरू हुआ है। ज़ाहिर है, इस क्षेत्र में और इन मसलों पर लिखनेवाले ऐसे लोग नहीं हैं जो कि इनके प्रति अनभिज्ञ होते हुए एक पूर्वग्रह के साथ दूर से ही नमस्ते के अंदाज़ में अपनी पुरानी परिपाटी को बरकरार रखने के इरादे से लिख रहे हैं। इस दिशा में ऐसे लोग सक्रिय हैं जिन्होंने सालों-साल गूगल, ट्विटर, फ़ेसबुक और यूट्यूब जैसे प्लैटफ़ॉर्म के लिए काम किया और अपनी किताबों, शोध-आलेखों में यह प्रस्तावित करते आए हैं कि कैसे ये प्लैटफ़ॉर्म मानवीय व्यवहार में अनियमितता (मेंटल ऐण्ड विहेवियरल डिज़ॉर्डर्स) और असहजता पैदा करने के स्रोत हैं।^{xxiv}

निष्कर्ष

डिजिटल प्लैटफ़ॉर्म पर अतिसक्रियता और इसके बीच डिजिटल डिटाॅक्स की अनिवार्यता के सिरे से जब हम विचार करते हैं तो हमें उपभोक्ता संस्कृति के अध्येता माइक फ़ेदरस्टोन का वह तर्क ध्यान आता है कि आप उपभोक्ता संस्कृति को चाहे जिस भी तर्क से सही ठहराना चाहें, अंतिम बात यही है कि हम जितना ज़्यादा उपभोग करते हैं, हर हाल में हम पृथ्वी और उसके संसाधनों का ही दोहन कर रहे होते हैं जो कि मानवीय हित में नहीं है। यहाँ पृथ्वी के स्थान पर शारीरिक अंगों और खासकर मस्तिष्क को रखकर देखें तो सवाल ठीक वैसा ही है। ज़ाहिर है, यह सवाल रोज़गार, अवसर और राजस्व की संभावना को देखते हुए जिस अनिवार्यता के साथ हमारे जीवन में शामिल हो रहा रहा है या कई स्तर पर किया

भी जा रहा है, उससे कहीं आगे का सवाल है। फ़िलहाल हम इस सवाल तक ठीक से पहुँच नहीं पा रहे हैं या फिर तात्कालिकता के आग्रह से नज़रअंदाज़ किए जा रहे हैं, लेकिन डिजिटल मीडिया अध्ययन क्षेत्र के संदर्भ में, आनेवाले समय में यह सबसे अहम और ज़रूरी सवाल होने जा रहा है। ऐसे में छात्र जीवन में मार्शल मैक्लूहन का ठंडा माध्यम और गरम माध्यम का विभाजन जो एक स्तर पर आकर अप्रासंगिक लगने लगा था, डिजिटल माध्यमों की प्रकृति को लेकर अध्ययन करने पर इसकी प्रासंगिकता नए सिरे से बनती दिखाई देती है। बहुत संभव है कि अध्ययन की व्यापकता के साथ मैक्लूहन माध्यम डिटाॅक्स के आदिम अध्येता साबित हों।

संदर्भ:

1. इस संबंध में मैलकॉम डीन की *डेमॉक्रैसी अंडर अटैक: हाउ द मीडिया डिस्टॉर्ट पॉलिसी एण्ड पॉलिटिक्स* 2013, (Malcolm Dean, *Democracy Under Attack: How the Media Distort Policy and Politics*, 2013), स्टीवन लेविट्स्काई एवं डेनियल जिब्लॉट की *हाउ डेमॉक्रैसी डाइज़: व्हॉट हिस्ट्री रिवील्स अबाउट अवर फ्यूचर*, 2018 (Steven Levitsky & Daniel Ziblatt, *How Democracy Dies: What History Reveals About Our Future*, 2018) और लिजा ब्लैकमैन एवं व्हेलेरी वॉकरडाइन की *मास हिस्टीरिया: क्रिटिकल सायकॉलजी ऐण्ड मीडिया स्टडीज़* (Lisa Blackman and Valerie Walkerdine, *Mass Hysteria: Critical Psychology and Media Studies*) जैसी किताबें देखी जा सकती हैं।
2. "Facebook stimulates the release of loads of dopamine as well as offering an effective cure to loneliness. Novelty also triggers these "feel good" chemicals. Facebook cornered the market on these chemical responses with 300 million new posts every day. And as if that weren't enough, they added

games, and now the 100 million users can release dopamine every time they play.” डॉ. एवा रित्वो, फ़ेसबुक एंड यॉर ब्रेन: द इनसाइड डोप ऑन फ़ेसबुक.

<https://www.psychologytoday.com/intl/blog/vitality/201205/facebook-and-your-brain>

3. न्यूज इज टू द माइंड व्हॉट शुगर इज टू द बॉडी, अध्याय-03
4. 'द थर्ड डे प्लान' शीर्षक अध्याय में रॉल्फ डॉबेली खबरों की दुनिया से पूरी तरह मुक्त होने के उपायों की विस्तारपूर्वक चर्चा करते हैं जिनमें कि प्रतिदिन एक कार्य करने की बात शामिल है.
5. न्यूज इज टॉक्सिक टू यॉर बॉडी, अध्याय-13
6. “The freedom to choose for ourselves what relevant is fundamental to a good life. More fundamental even than the freedom to express our opinions. An individual has the right not to be sent crazy by things that are clamorously pretending to be new and important. Our brain are full. We've got to cleanse them, detoxify them, free them to junk-not continually chuck in more...Less is the new more.” वही, पेज न. 123
7. 1. Check your checking. Stop checking your device constantly.
2. Set time limits. Control your online behavior- and remember, kids will model their behavior on adults.
3. Disconnect to reconnect. Turn off devices at mealtimes-and reconnect with the family. डॉ. मेरी ऐकेन, द साइबर इफेक्ट: अ पायनरिंग साइबर सायक्लॉजिस्ट एक्सप्लेन हाउ ह्यूमन विहेवियर चेंज ऑनलाइन,(2016) जॉन मर्रे(पब्लिशर), ब्रिटेन, पेज न.-62।

8. “में फ़ेसबुक पर आती हूँ, स्क्रोल करती हूँ और कुछ भी देखने या पढ़ने लगती हूँ. जब करीब-करीब पूरा वीडियो देख चुकी होती हूँ या पोस्ट पढ़ चुकी होती हूँ तब अचानक से दिमाग कहता है, अरे ये क्या पढ़ने बैठ गयी मैं. फिर मैं इस वीडियो या पोस्ट से हट जाती हूँ. थोड़ी देर में इसी तरह खुद को “चाय बनाने का सही तरीका” टाइप कोई फालतू वीडियो देखते पाती हूँ. और ये क्रम चलता जात है, चलता जाता है, चलता जाता है.”
लतिका जोशी, फ़ेसबुक टाइमलाइन: 17 दिसंबर 2021.
9. सोनाली अचार्जी (2016) *लुक अप: सोशल मीडिया एण्ड दि एडिक्शन नो वन इज टॉकिंग अवाउट*. हे हाऊस पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पेज न. 88।
10. वही, पेज नं. 110
11. *दैनिक जागरण*: <https://www.jagran.com/news/national-facebook-addiction-impacting-people-sleep-is-also-having-a-bad-effect-on-the-work-and-upbringing-of-children-22183425.html>
12. <https://www.wsj.com/articles/the-facebook-files-11631713039>
13. *अमर उजाला* <https://www.amarujala.com/delhi-ncr/ghaziabad/ghaziabad-ghaziabad-news-gbd239270439>
14. *दैनिक भास्कर*
<https://www.bhaskar.com/local/mp/ujain/shujalpur/news/the-distance-created-by-social-media-is-therefore-the-state-topper-achieved-this-position-through-self-study-and-self-control-129735193.html>

15. *आइनेक्स्ट*: <https://www.inextlive.com/uttar-pradesh/agra/up-board-distance-from-social-media-can-give-good-marks-in-exam-jd-1675452013>
16. *आजतक*: सोशल मीडिया बच्चों के दिमाग को बना रहा छोटा, क्या हमें भी US के इस स्कूल की तरह सोचना होगा?
<https://www.aajtak.in/education/news/story/social-media-causing-problems-in-kids-should-india-take-step-like-us-school-tedu-1614230-2023-01-12>
17. *लाइव हिन्दुस्तान*: <https://www.livehindustan.com/uttar-pradesh/hapur/story-distance-from-social-media-is-necessary-for-success-8104525.html>
18. 13 सितंबर 2020 की लिखी मनीषा पांडेय की फ़ेसबुक पोस्ट.
<https://www.facebook.com/search/posts?q=the%20social%20dialema&filters=eyJycF9hdXRob3I6MCI6Intclm5hbWVcljpcImF1dGhvcml9mcmllbmRzX2ZIZWRclixclmFyZ3NcljpcllwifSJ9>
19. प्रोफेसर चमनलाल की फ़ेसबुक पोस्ट
<https://www.facebook.com/search/top?q=the%20social%20dialema%20and%20chaman%20lal>
20. There is a basic principle that distinguishes a hot medium like Radio from cool one like the telephone, or a hot medium like the movie from a cool one like TV. A hot medium is one that extends one single sense I “high definition”. High definition is the state of being well filled with data. A photograph is, visually, “high definition.”- पेज न.-

21. But reality is never experienced by social man in raw. Whether the reality in question is the brute force of nature, or men's relations with other men, it is always experienced through the mediating structure of language. And this mediation is not a distortion or even a reflection of the real, it is rather the active social process through which the real is made. पेज नं. 161
22. https://www.ted.com/talks/sherry_turkle_connected_but_alone
23. What do we forget when we talk to machines? We forget what is special about being human. We forget what it means to have authentic conversation. Machines are programmed to have conversations" as if" they understood what the conversation is about. So, when we talk to them, we, too, are reduced and confined to the "as if."- पृष्ठ संख्या 339.
24. इस संदर्भ में जेरॉन लेनियर की *यू ऑर नॉट अ गैजेट* (2010), डेनियल लेवितिन की *दि ऑर्गनाइज्ड माइंड: थिंकिंग स्ट्रेट इन दि एज ऑफ़ इन्फॉर्मेशन ओवरलोड* (2014), एवगेनी मॉरोजॉव की *"टू सेव एवरिथिंग क्लिक हेयर: टेक्नॉलजी, सॉल्यूशनिज़म ऐण्ड अर्ज टू फ़िक्स प्रॉब्लम्स दैट डोन्ट एग्ज़िस्ट"* (2013) और शिवा वैद्यनाथन की *एंटीसोशल मीडिया: हाउ फ़ेसबुक डिस्कनेक्ट्स अस ऐण्ड अंडरमाइन्स डेमॉक्रेसी* (2018) किताबें ज़रूरी पाठ हैं.
-

